RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-06
June-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

पूर्वमध्यकालीन भारतीय साहित्य में वर्णित स्त्रियों की दशा

[1]Shobha Rani and [2]Dr. Jayveer Singh

[1]Research Scholar, OPJS University, Churu, Rajasthan
[2]Associate Professor, OPJS University, Churu, Rajasthan

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण रहा है। उसका महत्त्व इतना अधिक था कि उसके बिना पुरुष अपूर्ण था।[i] स्त्री शरीरा[ii] और अर्धांगिनी[iii] कही गई है। लक्ष्मी[iv] और श्री[v] के रूप में स्त्री जीवन को सुख और संवृद्धि प्रदान करने वाली निर्देशित की गई है।

समाज में स्त्री की स्वतन्त्रता

प्राचीन एवं मध्ययुगीन भारतीय समाज में इतना सम्मान और महत्त्व मिलने के बावजूद उन्हें पुरुषों के समान स्वतन्त्रता नहीं थी। वे विभिन्न प्रकार से पुरुषों पर निर्भर थीं। उसे बाल्यकाल में पिता, विवाह के पश्चात पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहने का निर्देश दिया गया है।[vi] प्राचीन काल से सम्मानजनक स्थान प्राप्त स्त्री की दशा पूर्व मध्यकाल में भी संतोषजनक नहीं थी। लक्ष्मीधर[vii], मेधातिथि[viii], कुल्लुक भट्ट[ix], विज्ञानेश्वर[x] के आख्यान तत्कालीन समाज में उसकी निम्न दशा का ज्ञान कराते हैं। अलबीरूनी के अनुसार जब संतान उत्पन्न होती है तब कन्या की अपेक्षा पुत्र का अधिक ध्यान रखा जाता है।[xi]

स्त्री का सम्पत्ति विषयक अधिकार

जहाँ तक स्त्री के सम्पत्ति में अधिकार का प्रश्न है उसके स्तर में पूर्वमध्यकाल में अपेक्षाकृत उन्नति हुई।[xii] याज्ञवल्क्य[xiii], विष्णु[xiv], लक्ष्मीधर[xv], आदि लेखक निःसंतान विधवा को अपने पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी मानते हैं। दायभाग[xvi] और विज्ञानेश्वर[xvii] के अनुसार पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारी उसकी विधवा है। अलबीरूनी का कथन है कि यदि मृत व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी है तो उसे विधवा को जीवन पर्यन्त भोजन और वस्त्र देना पड़ता है।[xviii] कन्या के सम्पत्ति अधिकार के विषय में वह लिखता है कि स्त्रियां केवल लड़की को छोड़कर सम्पत्ति की अधिकारी नहीं है। मनु का उद्धरण देते हुए वह कहता है कि वह पुत्र के हिस्से का चौथाई भाग पाती हैं। यदि वह विवाहित नहीं है तो उसके विवाह के समय तक उस पर धन व्यय किया जाता है और उसका दहेज उसके हिस्से से क्रय किया जाता है। इसके बाद उसे अपने पिता के घर से कुछ आय नहीं होती।[xix] किन्तु गौतम[xx]] याज्ञवल्क्य[xxi] और विज्ञानेश्वर[xxii] का कथन है कि विवाहित पुत्रियों में धनी पुत्री की अपेक्षा दीन पुत्री उत्तराधिकारी के लिए पसंद की जाती है। जीमूतवाहन[xxiii] का यह मत है कि पुत्रियों में पुत्रवती उत्तराधिकारी ही युक्तिपूर्ण है, विधवा और निःसन्तान पुत्री नहीं। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल की अपेक्षा पूर्वमध्यकाल में स्त्री के सम्पत्ति अधिकारों में वृद्धि हुई।

व्यभिचारिणी स्त्री का त्याग

विवाहित स्त्री द्वारा दूसरे पुरुष के साथ गमन करने पर पूर्वमध्ययुगीन समाज में प्रायश्चित की व्यवस्था थी। किन्तु स्त्री द्वारा बार–बार व्यभिचार किए जाने पर उसके त्याग का नियम था। अलबीरूनी के अनुसार स्त्री के व्यभिचारिणी होने पर उसे घर से निष्कासित कर दिया जाता था।[xxiv] किन्तु पूर्वमध्ययुगीन अन्य लेखकों विशेषकर विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में वसिष्ठ के इस मत को उद्धृत किया है कि शूद्र के साथ व्यभिचार करने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों को यदि यौन सम्बन्ध से संतान न हो तो उसे प्रायश्चित द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। समाज में ऐसी रीति थी कि पत्नी के पहली बार दूसरे पुरुष से व्यभिचार करने पर सामान्यतः उसका त्याग नहीं किया जाता था। उसे दूसरे ऋतुकाल तक या प्रसव होने तक घर के एकान्त कक्ष में रखा जाता था। उसे प्रायश्चित के पश्चात् शुद्ध समझा जाता था।[xxv] किन्तु यदि वह दूसरी बार व्यभिचार करे तो उसे त्यागा जा सकता था।[xxvi] मिताक्षरा[xxvii] में विज्ञानेश्वर ने वसिष्ठ के इस मत की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि शूद्र के साथ व्यभिचार करने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियों को यौन सम्बन्ध से सन्तान न हो तो प्रायश्चित से शुद्ध किया जा सकता है, किन्तु सन्तान उत्पन्न होने की स्थिति में ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।[xxviii] इस कथन से स्पष्ट है कि व्यभिचार से सन्तान उत्पन्न होने पर पत्नी का त्याग कर देना चाहिए, किन्तु त्याग से यह अर्थ नहीं है कि पत्नी को घर से निष्कासित कर देना चाहिए बल्कि धार्मिक एवं दाम्पत्य कार्यों से उसे अलग कर देना चाहिए। भारतीय विचारकों के मतों के आलोक में अलबीरूनी का कथन सही मालूम नहीं पड़ता। वास्तव में पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर भी निष्काषन की व्यवस्था नहीं थी।

वेश्याप्रथा एवं देवदासी

तत्कालीन साहित्य समाज में व्याप्त वेश्याप्रथा पर भी प्रकाश डालता है। नर्तकी, सामान्या, रूपजीवा, वेश्या, गणिका, देवदासी आदि विभिन्न व्यवसायों में संलग्न वेश्याऐं तत्कालीन समाज में पर्याप्त संख्या में थी। इनके उदाहरण समसामयिक साहित्य विशेषकर राजतरंगिणी, प्रबन्धचिन्तामणि तथा मानसोल्लास नामक ग्रंथों में मिलते हैं। इस काल में देवदासी प्रथा का बहुत प्रचलन था। यह देवदासियां मंदिरों के देवताओं को समर्पित होती थी जिनका कार्य देवमूर्तियों के समक्ष नृत्य और गायन होता था। हवेनसांग ने मुल्तान के सूर्य मन्दिर में नृत्यगान में व्यस्त अनेक देवदासियों को देखा था।[xxix] अलबीरूनी के अनुसार भारतीय शासक वेश्यावृत्ति को रोकने की ओर अधिक कठोर नही थे लेकिन जो स्त्रियां उनके देवमन्दिरों में नृत्य, गायन और क्रीड़ा करती हैं, उनके लिए न

RRIJM 2015, All Rights Reserved

कोई ब्राह्मण दुख प्रकट करना चाहता है और न कोई पुरोहित। राजा उन्हें अपने नगरों के आकर्षण के लिए अपने विषय सुख के लोभ के लिए छूट देते हैं। आर्थिक कारण को छोड़कर इसका कोई अन्य कारण नहीं है। राजकरों–व्यापार और अर्थदण्ड को जिन्हें उनके कोष सेना पर व्यय करते हैं, उस व्यय को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं।[xxx] अलबीरूनी का कथन कौटिल्य के इस कथन से मिलता है कि वेश्याओं को अपनी मासिक आमदनी में से 1/15 भाग राजकर के रूप में देना चाहिए। ऐसा न करने पर भारी आर्थिक दण्ड उठाना पड़ता था और जो कोई उनके लिए विवाद करता था उसे और भी आर्थिक दण्ड देना पड़ता था।[xxxi] अलबीरूनी के विवरण से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में व्याप्त वेश्यावृति राज्य की आय का स्त्रोत थी। अबू जैद नामक अरब यात्री लिखता है कि भारतीयों के पास ऐसी सामाजिक स्त्रियाँ हैं, जो मूर्ति की स्त्रियाँ अर्थात् देववासियाँ कही जाती हैं। उनकी संस्था का निर्माण इस प्रकार हुआ, जब एक स्त्री ने स्वयं को वचन से बांधा कि उसके बच्चे हों। यदि उसे एक सुन्दर कन्या होती है तो वह उस सन्तान को मूर्ति के निकट ले जाती है, मूर्ति का आह्वान करती है, पूजा करती है और उसे वहीं छोड़ जाती है। जब लड़की यथोचित अवस्था प्राप्त कर लेती है, तब वह इस सामाजिक स्थान में एक आवास लेती है। अपने दरवाजे के सामने एक पर्दा फैला देती है। वह भारतीयों के अतिरिक्त अन्य जातियों के नवांगुकों के आने की प्रतीक्षा करती है। उनके लिए यह भ्रष्ट आचरण निषिद्ध नहीं है। वह निश्चित दर पर वेश्यावृति करती है और मन्दिर के लिए तथा मन्दिर की सहायता में खर्चे के लिए मूर्ति के पुजारी के हाथों में लाभ दे देती है।[xxxii] 985 ई. के लगभग भारत भ्रमण करने वाले यात्री मुकद्दसी ने भी सिंध के मंदिरों में देवदासियों का उल्लेख किया है।[xxxiii] तेरहवीं सदी के पर्शीयन लेखक काजवीनी ने भी सोमनाथ मंदिर में पांच सौ देवदासियों के होने का उल्लेख किया है।[xxxiv] कल्हण ने भी कश्मीर के मंदिरों में देवदासियों का उल्लेख किया है।[xxxv] समकालीन अभिलेख भी देश के विभिन्न मंदिरों में पर्याप्त मात्रा में देवदासियों का उल्लेख करते हैं। उपरोक्त साक्ष्यों से प्रकट होता है कि पूर्वमध्यकालीन भारत में देवदासी प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी।

जकरीय अल काजवीनी से एक महत्वपूर्ण तथ्य यह उद्घटित होता है कि देवदासियों का भरण–पोषण मन्दिर को मिलने वाले दान पर होता था । अजूबैद और अलबीरूनी ने जहाँ देवदासियों को कामोपभोग का साधन बताया है, वहीं काजवीनी ने उनको मन्दिर के दान पर निर्भर होना बताया है।

इन कथनों से प्रकट होता है कि देवदासियाँ देशवासियों के ही काम–शमन की मुख्य साधन नहीं थी, बल्कि विदेशी यात्रियों के उपभोग की प्रमुख साधन थीं । इनके मुख्य कार्य देवमन्दिर में नृत्य, गायन और काम–क्रीडा थे जिन्हे समाज में निन्दित नहीं माना जाता था ।

निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकालीन भारतीय समाज में देवदासियों की संख्या अत्यधिक प्रमुखता प्राप्त करती जा रही थी। हुद्द– उल– आलम (रचना काल 928–983 ई0) के लेखक के अनुसार रामियान के मन्दिर में तीस नर्तकियाँ थीं जिनका मुख्य कार्य प्रतिमा के चारों और नृत्य करना था।[गगगअप] देवदासियों की यह संख्या मन्दिरों में क्रमशः बढने लगी । चौ–जु–कुओ के आधार पर डा0 घोषाल कहते हैं कि केवल गुजरात के चार हजार मन्दिरों में बीस हजार से ज्यादा नर्तकियाँ थीं।[xxxvii]

समसामयिक अभिलेखों से विदित होता है कि देवदासियाँ प्रधान रूप से मन्दिरों में रहने लगी थी । विजयसेन[xxxviii] द्वारा निर्मित प्रधुम्नेश्वर के मन्दिर में, सोमवंशी राजा उद्योतकेसरी[xxxix] की माता डागर रानी कलावती द्वारा निर्मित ब्रह्मेश्वर के मन्दिर में, भुवनेश्वर[xl] के अनन्तवासुदेव के मन्दिर में तथा कटक से तीस मील दक्षिण राजा वैधनाथ द्वारा निर्मित सभानेश्वर[xli] शिव के मन्दिर में देवदासियों के होने की सूचना मिलती है । राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिरों में ही नहीं, बल्कि साधारण जनता द्वारा निर्मित मन्दिरों में भी देवदासियाँ होती थी । इशानशिव[xlii] साधु द्वारा बदायूँ में बनाए गए शिव मन्दिर में देवदासियाँ नियुक्त थी। दक्षिण के अधिकांश मन्दिरों में नर्तकियाँ सेवा करती थीं।[xliii] कल्हण[xliv] काश्मीर के मन्दिरों की देवदासियों का उल्लेख करता है और मेरुतुंग[xlv] सोमनाथ पटट्न के कुमारविहार की देवदासियों का ।

इन समस्त विवरणों से प्रकट है कि देवदासियों का मन्दिरों में होना साधारण बात थी । देवदासियों की बढ़ती हुई इस संख्या में राजाओं एवं उच्चवर्गीय अधिकारियों ने अपना सहयोग देकर और वृद्धि की । वे स्वयं मन्दिरों के विभिन्न उत्सवों और मनोरंजन में सम्मिलित होते थें तथा देवदासियों के कार्यक्रमों को मनोनिवेशपूर्वक देखते थे ।

पूर्वमध्ययुगीन राजाओं द्वारा थोडे से आर्थिक लाभ के कारण देवदासियों को प्रोत्साहन और प्रश्रय देना नैतिक और व्यवहारिक दृष्टि से अत्यन्त निन्द्य और गर्हित था । यह सही है कि इस प्रथा से राजाओं और पुजारियों को आर्थिक लाभ हुआ, किन्तु देश और समाज को बहुत नुकसान हुआ, जिसकी पूर्ति असम्भव थी । तत्कालीन समाज देवदासियों का दास बनकर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के प्रति उदासीन हो गया।

देवमन्दिरों का निर्माण धार्मिक और नैतिक भावनाओं की प्रेरणा से हुआ था। जहाँ पहले मनुष्य क्षण भर के लिए जाकर सांसारिक मोह–माया और काम लिप्सा को भुलाकर देव आराधना करता था, वहीं अब श्रंगारयुक्त कामिनायों की पायलों की झंकार एवं सुमधुर गीतों की गूंज से अपने कामोद्दीपक स्नायुओं को उद्वेलित करने लगा। राजाओं और श्रेष्ठियों के कामुक आयोजनों से पूर्वमध्ययुगीन देवमन्दिर काम–मन्दिर अधिक बन गए। देवपूजन के स्थान पर कामपूजन पर जोर दिया जाने लगा। अतः पूर्वमध्ययुगीन रक्षकों की इन विलासी प्रवृत्तियों ने जनता और समाज की राष्ट्रीय चेतना को ग्रसित कर उसकी शक्ति और आत्मा को इतना जर्जर कर दिया कि देखते ही देखते विदेशी आक्रामकों ने भारतीय तन्त्र को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। भारतीयों के अधःपतन के कारणों में यह भी एक प्रमुख कारण था।

सती प्रथा

भारत में प्राचीनकाल से स्त्रियों के लिए मृत पति के साथ चितारोहण करके सती होने की व्यवस्था रही है। सती प्रथा के उदाहरण महाभारत में मिलते हैं।[xlvi] ग्रीक इतिहासकारों ने भी भारत में प्रचलित सती प्रथा उल्लेख किया है। स्ट्रैबो तक्षशिला के रीति–रिवाज के सन्दर्भ में अरिस्तोबोउलस को उद्धृत करते हुए लिखता है कि यहाँ

पत्नियां प्रसन्नतापूर्वक अपने मृत पतियों के साथ जल जाती है और जो स्त्रियाँ जलने से इन्कार करती हैं वे निरादृत होती है।[xlvii] इसी प्रकार स्ट्रैबो दिदोरस को उल्लिखित करता है, जिसके अनुसार विधवाओं के लिए यह रिवाज था कि वे मृत पति के साथ जल जाएं। वह आगे लिखता है कि अगर वह ऐसा नहीं करती तो जीवनपर्यन्त उन्हें यज्ञ एवं अन्य अधिकारों को सम्पन्न करने का कोई अधिकार नहीं होता।[xlviii]

पति के अवसान होने पर समाज में साधारणतः दो ही क्रम प्रचलित थे। पति के साथ सती हो जाना अथवा शेष जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करना। बृहस्पति का यह कथन है कि पति के मरने पर पत्नी अन्वारोहण करे अथवा शेष जीवन सच्चरित्रता के साथ व्यतीत करें।[xlix] अन्वारोहण की अग्नि पति–पत्नि की अविच्छिन्नता की द्योतक थी।

अलबीरूनी लिखता है कि पति की मृत्यु के बाद स्त्रियाँ दो चीजों में से एक चुनती हैं, जीवनपर्यन्त विधवा रहना अथवा स्वयं को जला देना। पिछली घटना को ही अच्छा समझा जाता रहा है क्योंकि जब तक वह विधवा के रूप में जीवित रहती थी उससे तुच्छ बर्ताव किया जाता था। राजाओं की पत्नियां के सम्बन्ध में चाहे वे चाहती हों या नहीं, उनके यहाँ जला देने का व्यवहार है जिसमें वे चाहते हैं कि उनमें से कोई ऐसा कार्य न करे जो उनके प्रसिद्ध पति के विरूद्ध हो। किन्तु उन स्त्रियों के लिए एक अपवाद है जो अधिक उम्र की हैं और जिनको सन्तान हैं क्योकि पुत्र अपनी माता का उत्तरदायी रक्षक है।[l]

अलबीरूनी के पूर्ववर्ती अरबयात्री सुलेमान ने भी तत्कालीन भारत में सती प्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि यहाँ यह नियम है, जब राजा मरता है तब उसके साथ सब रानियाँ भी जल जाती हैं। पर यह केवल उनकी इच्छा पर है, इसमें कोई जबरदस्ती नहीं।[li]

अलबीरूनी के कथन से विदित होता है कि राजाओं की पत्नियों को न चाहते हुए सती होने के लिए बाध्य होना पड़ता था जब कि उससे डेढ़ सौ वर्ष पहले आने वाले लेखक सुलेमान ने विधवा की अपनी इच्छा को महत्त्व दिया है चाहे वह सती हो या न हो।

पूर्वमध्यकालीन व्याख्याकार विज्ञानेश्वर ने मेधातिथि[संपि] का विरोध करते हुए सती प्रथा को सभी वर्णो में प्रचलित होने का निर्देश किया है।[liii] लक्ष्मीधर ने विस्तार से विधवा के कर्त्तव्य का विवेचन किया है। विधवा के सती होने की व्यवस्था के निमित्त वह अंगिरास्मृति को उद्धृत करता है, जिसके अनुसार पति के मृत हो जाने पर जो स्त्री अग्नि पर आरोहण करती है वह अरुन्धती (वसिष्ठ की स्त्री) के सदृश आचरणवाली होकर स्वर्गलोक में महत्त्व प्राप्त करती है। मनुष्य के शरीर में जो साढ़े तीन करोड़ रोएं होते हैं पति का सहगमन करने वाली स्त्री उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करती है।[liv]

अलबीरूनी का यह कथन सही है कि सती–प्रथा राजपरिवारों में ही अधिक प्रचलित थी। भारतीय साहित्यिक कृतियों में पति के साथ सती हो जाने वाली स्त्रियों की भूरि–भूरि प्रशंसा की गई है। कुमारसम्भव[lv], गाथासप्तशती[lvi], कामसूत्र[lvii], बृहत्संहिता[lviii] आदि में पति के साथ अन्वारोहण करने वाली स्त्री को सम्मान योग्य माना गया है।

700 ई. से 1100 ई. के मध्य उत्तरी भारत में सती प्रथा का तेजी से विस्तार हुआ। कश्मीर में इसके बहुधा प्रमाण मिलते हैं। कल्हण के अनुसार राजा उच्छल की मृत्यु के पश्चात् उसकी अपवित्र रानी जयमति भी सती हो गई। कश्मीर के राजपरिवारों में सती प्रथा की जड़े इतनी गहरी थी कि न केवल विवाहिता बल्कि रखैलें भी अपने स्वामी की मृत्यु पर सती होती थी। उदाहरणार्थ राजा कलश और उत्कर्ष की मृत्यु पर उसकी रानियों के साथ–साथ रखैलों ने भी अनुगमन किया था।[lix] ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि प्रियजनों की मृत्यु पर पत्नी के साथ–साथ माता–पिता एवं बहनें भी अग्नि में जल मरती थी।[lx] अनेक अवसरो पर शासक के मरने पर मंत्री, सेवक तथा सेविकाएं भी आत्मदाह करते थे।[lxi] राजा शंकरवर्मन के मर जाने पर उसकी प्रधान रानी, दूसरी विधवाएँ तथा चार विश्वासी सेवक अन्वारोहण में शामिल हुए।[lxii] कन्दर्पसिंह की मृत्यु पर उसकी पत्नी बिम्बा सती हुई।[lxiii] कथासरित्सागर से विदित होता है कि पति के मरने पर स्त्री सती हो गई।[lxiv] इस प्रकार पूर्वमध्ययुगीन ग्रन्थों में सती होने के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, यह प्रथा राजकुलों में ही अधिक प्रचलित थी जबकि जनसाधारण में इस प्रथा का अधिक व्यवहार नहीं था।

तत्कालीन समाज के समस्त विवरणों पर दृष्टिपात करने से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट होता है कि सती प्रथा का प्रचलन राजकुलों एवं बड़े–प्रतिष्ठित परिवारों में ही प्रचलित था। यदा–कदा लोभवश सम्पत्ति में से स्त्री को हिस्सा न देने के उद्देश्य से स्त्रियाँ सती कर दी जाती थीं। किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सती होने का प्रचलन समस्त जनता के व्यवहार में नहीं था। यह विधवा पर निर्भर था कि वह सती हो या ब्रह्मचर्य का जीवन यापन करे।

संदर्भ

[i] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[ii] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[iii] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[iv] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[v] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[vi] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[vii] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[viii] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[ix] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[x] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10

[xi] *शतपथ ब्राह्मण,* 5, 2.1.10
[xii] आर.सी.मजूमदार एवं ए.एस. अल्तेकर (सम्पा.), *स्ट्रगल फॉर एम्पायर,* बम्बई, 1957, पृ. 483, 496
[xiii] *याज्ञवल्क्य स्मृति* 2.135–36
[xiv] *विष्णुपुराण* 17.43
[xv] जीमूतवाहन, *दायभाग,* (अनुवादक) एच.टी. कोलब्रुक, कलकत्ता, 1910, खण्ड– 11,
[xvi] जीमूतवाहन, *दाय भाग,* खण्ड– 13
[xvii] विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, *2.136*
[xviii] अलबीरूनी, *पूर्वोक्त,* खण्ड दो पृ. 146
[xix] अलबीरूनी, *पूर्वोक्त,* खण्ड दो पृ. 164
[xx] *गौतमस्मृति,* 28.22
[xxi] *याज्ञवल्क्य स्मृति* 2.135
[xxii] विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा–*याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य,* 2.135
[xxiii] *दाय भाग,* 11.21–3
[xxiv] अलबीरूनी, *पूर्वोक्त,* खण्ड दो, पृ. 162
[xxv] *वशिष्ठधर्म सूत्र,* 21.10–12
[xxvi] *वशिष्ठ,* 21.10; *मिताक्षरा–याज्ञ.* 1.72
[xxvii] *मिताक्षरा–याज्ञवल्क्य,* 1.70–72
[xxviii] *वशिष्ठधर्मसूत्र,* 21.10–12
[xxix] सैमुअल बील, *बुद्धिस्ट रिकार्डस ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड,* खण्ड दो, लन्दन, 1884, पुर्नमुद्रित 1981, पृ. 274; थामस वाटर्स, *ऑन युवान च्वांग्स ट्रेवल्स इन इण्डिया,* खण्ड दो, लंदन, 1905, पृ. 254
[xxx] अलबीरूनी, *पूर्वोक्त,* खण्ड दो पृ. 157
[xxxi] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र,* (सम्पा.), आर.शाम.शास्त्री, अध्यक्ष प्रचार, अध्याय 27
[xxxii] ई., रेनाऊडट, *एशियन्ट अकाऊंटस ऑफ इण्डिया एण्ड चाईना, बॉय टू मोहम्मडन ट्रेवल्स,* लंदन, 1833, पृ. 88
[xxxiii] मुकद्दसी, *अहसुनत तकासीम फी. मरीफतिल अकालीम,* (सम्पा.) डी. गोजे, लेडन, 1877, पुनर्मुद्रित, 1906, पृ. 483
[xxxiv] इलियट एंड डाऊसन, *हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बॉय इट्स ऑन हिस्टोरियन्स,* खण्ड एक, लंदन, 1867, पृ. 98
[xxxv] कल्हण, *राजतरंगिणी,* 7.858
[xxxvi] *प्रोसिडिंग्स ऑफ दी इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस,* 1939, पृ.157
[xxxvii] आर.सी.मजूमदार, (सम्पा.), *दी स्ट्रगल फॉर एम्पायर,* पृ. 495–96
[xxxviii] *एप्पिग्रापिफया इण्डिका,* IV, एक, पृ. 310
[xxxix] जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, 1947, पृ. 71
[xl] एप्पिग्राफिया इण्डिका, एक, पृ. 196–20
[xli] जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना, XVII, 1931, पृ. 124
[xlii] एप्पिग्राफिया इण्डिका, एक, पृ. 61–66
[xliii] सी. मीनाक्षी, *एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोशल लाईफ अण्डर दी पल्लवाज,* मद्रास, 1938, पृ. 177
[xliv] कल्हण, *राजतंरगिणी,* 7.858
[xlv] मेरूतुंग, *प्रबन्धचिन्तामणि,* (अंग्रेजी अनु.), सी.एच.टॉनी, पृ. 108
[xlvi] महाभारत, आदिपर्व, 95.65; 125.29; विराटपर्व, 23.8; शान्तिपर्व 148.10–12
[xlvii] मैक्रिण्डल, *एशियन्ट इण्डिया एज डिस्क्राईब्ड बॉय मैगस्थनीज एण्ड एरियन,* कलकत्ता, 1885, पृ. 69
[xlviii] *वही,* पृ. 69–70
[xlix] *बृहस्पति स्मृति,* 25.11
[l] अलबीरूनी, *पूर्वोक्त,* खण्ड दो, पृ. 155
[li] सुलेमान, *सिलसिलतुत तवारीख,* पृ. 50
[lii] मेधातिथि, *मनु स्मृति पर भाष्य,* 5.156
[liii] विज्ञानेश्वर, *मिताक्षरा–याज्ञ.,* 1.86
[liv] लक्ष्मीधर, *कृत्यकल्पतरू, व्यवहार काण्ड,* पृ. 622–33
[lv] कालीदास, कुमारसम्भव, 4.34
[lvi] *गाथासप्तशती,* 7.33
[lvii] वात्स्यायन, *कामसूत्र,* 6.3.43
[lviii] वराहमिहिर, *बृहतसंहिता,* 74.16
[lix] कल्हण, *राजतरंगिणी,* 8.858
[lx] *वही,* 6.1380, 8.448, 7.1486
[lxi] *वही,* 5.206, 7.481, 7.490, 8.1447
[lxii] *वही,* 5.225
[lxiii] *वही,* 7.103
[lxiv] सोमदेव, *कथासरित्सागर,* 10.58